International Journal of Education and Science Research Review
E-ISSN 2348-6457
Volume-8, Issue-6 Nov-Dec- 2021
P-ISSN 2349-1817
www.ijesrr.org
Email- editor@ijesrr.org

हिंदी कथा साहित्य में उपन्यासों की परंपरा और किसान जीवन का संक्षिप्त अध्ययन

Pushpa Rawat, Research Scholar, Dept. of Hindi, Himalayan Garhwal University

Dr. Brajlata Sharma, Professor, Dept. of Hindi, Himalayan Garhwal University

सार–

भारत गांवों का देश है और गांव का प्रमुख आधार किसान है। लेकिन वह गरीबी और पीड़ादायक जिंदगी जीने के लिए मजबूर है। इन्हीं किसानों के यथार्थ रूप को अपने साहित्य में पकड़ने की चेष्टा कई लेखकों ने की है। आज ईर्ष्या–द्वेष एवं कलह का सर्वत्र राज है। मूल्यों का क्षरण काफी तेजी से हुआ है फलतः आज कोई भी भलमानुष गॉव में नहीं रहना चाहता। स्वार्थ में अंधे लोगों की हिंसक प्रवृत्ति और अधकचरी राजनीति में तत्पर गॉवों से सभा, बटोर और मिल–जुलकर काम करने की प्रवृत्ति स्वराज्य के बाद नये ग्राम–विकास के साथ जो विदा होना शुरू हुई तो वह अब पूर्णतः विदा हो गयी है। जिससे बुद्धिजीवी वर्ग का गॉव से लगातार पलायन हो रहा है और गॉव दिन–पर–दिन उजड़ते जा रहे हैं। वर्तमान समय में ग्रामीण संस्कृति का पतन हो रहा है और उसके स्थान पर आधुनिक एवं भौतिकवादी संस्कृति अपने वर्चस्व को स्थापित किया है।

प्रस्तावना–

भारतेंदु युग में अधिकतर उपन्यासों की रचना सामाजिक उपदेशों या फिर कुतूहलवर्धन की ही दृष्टि से हुई थी। हिंदी उपन्यासों की परंपरा को हम मुख्यतया इस दृष्टि से समझकर प्रथम अवस्था 1850 से 1900 तक है और द्वितीय अवस्था सन 1900 से 1915 तक का है। तृतीय अवस्था 1915 से 1936 तक और चौथी अवस्था 1936 से 1947 तक आधुनिक काल–पूर्वाद्ध तक के समय में बाँट सकते हैं। अंतिम आधुनिक काल–उत्तरार्द्ध 1947 से आज तक चलायमान है। तृतीय अवस्था (1915–1936) का समय प्रेमचंद जैसे महान लेखक का रहा है। प्रेमचंद की कलम से गरीब और मध्यम वर्ग की आवाज को बल मिला है। प्रेमचंद ने अपनी लेखनी से किसान एवं मजदूर और पददलितों को उनका अर्हता प्रदान किया है। प्रेमचंद के पूर्व उपन्यासों में किसान को केंद्र में रखकर किसी भी उपन्यास की रचना नहीं हुई। द्विवेदी युग में 1908 में महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अपनी अर्थशास्त्र पर 'संपत्तिशास्त्र' नामक किताब में किसानों की तबाही और कृषि की बर्बादी को लेकर पहली बार निबंध लिखा जिसमें उन्होंने कहा "हिंदुस्तान की जमीन की मालिक रियाया नहीं अंग्रेजी गवर्नमेंट है वह रियाया से लगान वसूलती है।"[1] सामंत विरोधी और साम्राज्य विरोधी प्रवृतियाँ द्विवेदी युग में पुष्ट हुई। 1914 में 'देश की बात' में द्विवेदी कहते हैं कि देश लोगों से बनता है और देश में 70 फीसदी किसान हैं। महावीर प्रसाद द्विवेदी किसानों और मजदूरों को संगठित होकर लड़ने की बात करते थे। हिंदी नवजागरण और द्विवेदी युग में रामविलास शर्मा कहते हैं द्विवेदी ने बताया है कि–"यदि कृषकों से लगान मिलना बंद हो जाए तो बड़े–बड़े राजा–महाराजाओं और तालुकेदारों की दुर्गति का ठिकाना न रहे, सरकार के शासन चक्र का चलना बंद हो जाये, वकीलों और बैरिस्टरों के गाड़ी–घोड़े बिक जाएँ तथा व्यापारियों और महाजनों को शीघ्र ही टाट उलटना पड़े।"[2] अंग्रेजों के भारत में आने पर भारतीय अर्थतन्त्र में जो मौलिक परिवर्तन हुए वह यह कि अब अंग्रेजों ने जमीन पर अपना कब्जा जमाया अब एक नए तरह के सामंतवाद का उदय हुआ। पहले जमीन जोतने वाले को बहुत से अधिकार प्राप्त थे लेकिन अब नए सामंतवाद ने यह अधिकार छीन लिया। इस युग के बाद छायावादी युग में निराला के साहित्य में खासकर 'भिक्षुक' कविता की वह लाइन 'वह आता दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता..' कलात्मक स्तर पर तथा उनकी विचारधारा में शासन विरोधी प्रवृत्तियाँ क्रांतिकारी रूप में व्यक्त हुई है। इसकी अगली कड़ी में 1936 के हंस में प्रेमचंद ने 'महाजनी सभ्यता' नामक लेख लिखा जिसमें उन्होंने दुनिया के रहस्य मनुष्य समाज को दो भागों में बँटा हुआ बताया–बड़ा हिस्सा मरने खपने वालों का और दूसरा छोटा हिस्सा उन लोगों का है जो अपनी शक्ति और प्रभाव से बड़े समुदाय को अपने वश में किए हुए हैं।

हिंदी उपन्यास की परंपरा को कलात्मक रूप प्रदान करने और उन्हें जनजीवन की समस्याओं के अधिक निकट लाने का श्रेय जितना प्रेमचंद को है उतना अन्य किसी को नहीं। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में–"प्रेमचंद शताब्दियों से पददलित, अपमानित और निष्पेषित कृषकों की आवाज थे, पर्दे में कैद, पद–पद पर लांछित और

असहाय नारी जाति की महिमा के जबर्दस्त वकील थेय गरीबों और बेकसों के महत्त्व के प्रचारक थे। अगर आप उत्तर भारत की समस्त जनता के आचार–विचार, भाषा–भाव, रहन–सहन, आशा–आकांक्षा, दुःख–सुख और सूझ–बूझ जानना चाहते हैं तो प्रेमचंद से उत्तम परिचायक आपको नहीं मिल सकता। झोपड़ियों से लेकर महलों, खोमचों वालों से लेकर बैंकों, गाँव से लेकर धारा–सभाओं तक आपको इतने कौशलपूर्वक और प्रमाणिक भाव से कोई नहीं ले जा सकता।"[3]

'प्रेमाश्रम' जो 1918–19 में लिखा गया और 1922 में प्रकाशित हुआ। इसी समय अवध का किसान आंदोलन भी बेदखली के खिलाफ बाबा रामचंद्र की अगुआई में चल रहा था। हालांकि प्रेमाश्रम उपन्यास में अवध आंदोलन का जिक्र है लेकिन प्रमुखता के साथ नहीं। कारण यह भी है कि प्रेमचंद जिस क्षेत्र के किसान समाज का चित्रण कर रहे थे वहाँ जमींदारी प्रथा थी। जबकि अवध में तालुकेदारी प्रथा। किसानों के शोषण का यथार्थ चित्रण प्रेमचंद ने 'प्रेमाश्रम' में प्रस्तुत किया है। प्रेमाश्रम में किसानों की दुर्दशा जमींदारों के अत्याचार, पुलिस के हथकंडे, अफसरों और मातहतों की धांधली वकीलों की नमकहरामी, न्यायाधीशों का अंधापन आदि का बड़ा सजीव चित्रण किया गया है। प्रेमाश्रम एक ऐसा उपन्यास है जिसमें समस्या भी है और उसका हल भी है। प्रेमाश्रम में जमींदारों द्वारा अत्याचार करवा कर क्रांति के लिए बीज बोना, किसानों का घर जलाना, चौपाइयों को चरागाहों में न चरने देना, किसानों के ऊपर बेदखली कर मुकदमे चलाना आदि समस्याओं को दिखाया गया है। डॉ रामविलास शर्मा कहते हैं–"यह उपन्यास असहयोग आंदोलन के बाद छपा यह हमारा दुर्भाग्य था। फिर भी उसने स्वाधीनता आंदोलन को दूर करने के लिए उसे एक नई गति देने में किसान समस्या को आजादी की मूल समस्या के रूप में स्वीकार करने में बहुत बड़ा काम किया है। ऐसा सामाजिक महत्व विरले ही उपन्यासों का होता है।"[4] 'प्रेमाश्रम' के खलनायक ज्ञानशंकर जैसा पतित चरित्र उनके किसी उपन्यास में नहीं मिलता। पुलिस और साम्राज्यवाद के अन्य यंत्रों द्वारा सामंती व्यवस्था को किस तरह क्षति पहुँचाता है, इसका भी चित्र इन्होंने इस उपन्यास में खींचा है।

दूसरा महत्वपूर्ण उपन्यास 'कर्मभूमि' है जिसमें जमीन की समस्या, लगान कम करने की समस्या, प्रमुखता से उठाई गई है। इस उपन्यास में जनता की साम्राज्य विरोधी भावना है। प्रेमचंद का तीसरा उपन्यास 'रंगभूमि' में अनेक प्रसंग है जिसमें पूंजीवाद को पुष्ट करने वाले उद्योग एवं गांधी की अहिंसा तथा सत्याग्रह के ढोंगों द्वारा उनके विरोध को। कृषि प्रधान गाँव को उजाड़ कर औद्योगिक केंद्र बनाने में भारत के देशी राज्यों ने राजाओं ने अंग्रेजी सरकार का किस प्रकार साथ दिया यह अनुस्यूत है। सूरदास उपन्यास का प्रमुख पात्र है जो औद्योगीकरण के विरोध में खड़ा होता है। सूरदास का विरोध गांधी के विरोध की तरह ही है।

'गोदान' (1936) प्रेमचंद के अन्य उपन्यासों से भिन्न यथार्थवादी–दृष्टिकोण से एक भारतीय कृषक की दीन–हीन दशा का चित्रण है। 'गोदान' में होरी के यथार्थ चित्रण में वे पूर्णतया यथार्थवादी रहे हैं। उपन्यास के केन्द्र में किसान के शोषण की समस्या है। 'गोदान' का नायक होरी किसान है। वह और उसका परिवार दिन–रात हाड़–तोड़ मेहनत करते हैं, फिर भी होरी का परिवार विपन्न हैं। वे अपनी मूलभूत अनिवार्यताएँ भी ठीक से पूरी नहीं कर पाते। होरी की एक छोटी–सी महत्त्वाकांक्षा है–एक गाय पालना। अपनी इस आकांक्षा को वह छलछन्द से पूरी भी करता है, लेकिन वही उसकी त्रासदी का मुख्य कारण बनती है। होरी हताश नहीं दिखता है, जब स्थिति कुछ सुधरती दिखती है तो वह फिर से इस महत्वाकांक्षा को पाल लेता है। वह अपनी इसी लालसा को पूरा करने के लिए किसान से मजदूर बनता है। दिन में सड़क के लिए लू–धूप सहता हुआ आठ आने रोज की मजदूरी पर ऊसर में कंकड़ों की खुदाई करता है, और रात को ढिबरी के सामने बैठकर सुतली कातता है। एक दिन होरी को लू लग जाती है और वह अपनी लालसा पूरी किए बिना ही मर जाता है। ब्राह्मण धनिया से कहता है कि वह गोदान करा दे। धनिया यन्त्रवत उठकर अन्दर गई और सुतली बेचकर लाए गए बीस आने होरी के ठंडे हाथ पर रखकर सामने खड़े दातादीन से बोली–"महाराज, घर में न गाय है, न बछिया, न पैसे हैं, यही इनका गोदान है। और पछाड़ खाकर गिर पड़ी।"[5]

स्वतंत्रता के पूर्व भारत के ग्रामीण जीवन की जो स्थिति थी, उसके एक छोर पर होरी है जो द्वितीय विश्वयुद्ध के पहले ही फैले अंधकार से मौन–संघर्ष करते हुए मर जाता है। हिंदी साहित्य का सबसे उत्कृष्ट उपन्यास 'गोदान' माना जाता है। किसानों के जीवन के अलग–अलग पहलुओं को लेकर प्रेमचंद उपन्यास लिख चुके थे लेकिन कर्ज की समस्या को लेकर यह पहला उपन्यास प्रकाश में आया। कर्ज ऐसी समस्या है जिसका कोई अंत नहीं है होरी यह कहता है–"कर्ज वह मेहमान है जो एक बार आकर जाने का नाम नहीं लेता।"[6] 'गोदान'

का होरी भारतीय किसान के संपूर्ण जीवन की समस्त विभीषिकाओं, दुर्बलताओं तथा दुख दर्द को वाणी देता है। 1936 के आसपास राष्ट्रीय आंदोलन का स्वरूप स्थिर हो चुका था। एक प्रकार से यह निश्चित हो गया था कि अब किसान जमींदार अधिक दिन अपने चंगुल में फंसा कर किसानों का शोषण नहीं कर सकते लेकिन किसान जमीदारों के चंगुल से निकलकर सूदखोर महाजन के जाल में फँसता जा रहा था। जमींदार तो एक था लेकिन महाजन तो कई थे। अतः महाजनों के जाल से किसानों के लिए निकलना कठिन था। रामविलास शर्मा कहते हैं–"भारत के दुखी दरिंद्र किसानों के अनूठे चित्रकार प्रेमचंद को विश्व साहित्य में जगह न मिलेगी तो किसे मिलेगी।''[7]

प्रेमचंद के 'गोदान' का अनुकरण असंभव था आज तक वह हो नहीं पाया है। लेकिन प्रेमचंद के कल्पना यथार्थ कौतूहल का अनुकरण तो किसान उपन्यास में कमोबेश अवश्य हुआ है। प्रेमचंद युग में अनेक उपन्यासकारों का उदय हुआ जिनमें चतुरसेन शास्त्री, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, वृंदलाल वर्मा, जैनेंद्र कुमार, इलाचन्द्र जोशी आदि। प्रेमचंद की परंपरा के उपन्यासकार जीवन के बहुआयामी यथार्थ को वाणी दी है और यह बताया है कि श्रमिक वर्ग किस तरह अपना भरण–पोषण कर दयनीय स्थिति में है। प्रेमचंद की परंपरा को आगे बढ़ाने वाले उपन्यासकारों में अमृतलाल नगर और रांगेय राघव हैं। जिनके उपन्यास की कथावस्तु किसान जीवन है।

रांगेय राघव के 'विषाद मठ' (1946) उपन्यास में 1943 के बंगाल के दुर्भिक्ष को चित्रित किया गया है। दुर्भिक्ष से कलकत्ता शहर और गाँव दोनों पीड़ित है किसानों की स्त्रियां अपने बच्चों को सड़क पर छोड़ देती है और स्वयं कलकत्ता के चकला घरों में अपनी भूख शांत करने के लिए शरण लेती हैं। जमीन घर सब लगान में चले गए जमींदार की गुलामी करनी पड़ी किसानों को जमींदार शोषण करते थे तो दूसरी तरफ महाजन सूद पर पैसा देकर गरीब किसानों को मजदूर बना रहे थे और फिर किसान मजदूर से भिखारी बनते जा रहे थे।

अमृतलाल नागर का 'महाकाल' (1947) इसका विषय बंगाल का 1947 में पढ़ने वाला मानव कृत दुर्भिक्ष है कहते हैं कि रुपया किसान को बहुत प्यारा होता है इसलिए जब धान के भाव 3 की बजाय 13 रुपए मन हुआ तो किसान सब धान उठाकर महाजनों को बेंच दिए लेकिन जब धान का भाव 40 रुपया हो गया तो किसान अपने खाने के लिए घर–द्वार, खेत–खलिहान, कपड़े–लत्ते, बर्तन यहां तक कि अपनी बहू बेटियों को बेचा जिसका यथार्थ चित्रण इस उपन्यास में मिलता है।

1952 नागार्जुन कृत 'बलचनमा' उपन्यास में जमींदारों से किसानों के संघर्ष की कथा कही गई है आजादी के बाद का किसान आंदोलन को दिखाया गया है। बलचनमा निर्धन खेतिहर निम्नवर्गीय किसान मजदूर है जो आजादी के बाद मजदूर से किसान बनने के सपने देखता है। कुछ हद तक वह अपने सपने साकार करता है। पहले तो वह कांग्रेस और गांधी से प्रभावित होता है लेकिन बाद में उसका झुकाव समाजवादी आंदोलन की तरफ होता है। फिर वह अपने मुक्ति की लड़ाई लड़ने के लिए किसान की लाल पार्टी से जुड़ता है। बलचनमा स्वतंत्रता से ठीक पहले का है। उसकी स्थितियाँ उसे हराती नहीं बल्कि मजबूत और मुखर करती हैं। बलचनमा अनेक शोषण और अन्यायों को भोगता हुआ अपने नंगे, भूखे श्रम के बलबूते पर चरवाहे से (पुश्तैनी गुलाम) काँग्रेसी वालंटियर, स्वयं सेवक, नौकर से खेत मजदूर, खेत मजदूर से किसान और किसान से किसान नेता बनता है। जमींदारों के अत्याचारों को सहते–सहते बलचनमा में विरोध के स्वर उभरते हैं। आजादी की लड़ाई में अपने निजी स्वार्थों के लिए लड़ते जमींदार और भद्र कॉङ्ग्रेसी की असली स्थिति को देखकर बलचनमा को राजनैतिक चेतना आती है। उसे यह यकीन हो जाता है कि–"आजादी की प्राप्ति के लिए जो भारत संघर्ष कर रहा है अपना बलिदान दे रहा है उससे गरीबों का तो कोई भला होने वाला नहीं है। स्वराज मिलने पर बाबू भैया लोग आपस में दही मछ्ली बाँट लेंगे। ये लोग आज भी मालिक बने बैठे हैं। आगे भी यही मालिक होंगे बाकी गरीबों के हिस्से तो सीठी ही मिलने वाली है।"[8] गांधीजी के अनुसार मजदूर को मिल के मालिक का और किसान को जमींदार का हृदय जितना चाहिए। लेकिन बलचनमा को यह चेतना आ जाती है कि मालिक लोगों का पैर पकड़ने से जूता खाने को मिलेगा न कि उनका हृदय परिवर्तन होगा। 'बलचनमा' में नागार्जुन यह स्पष्ट करते हैं कि अपने अधिकार के लिए किसान को जमींदारों, पूंजीपतियों से संगठन बनाकर लड़ना होगा। उन्हें किसान–सभा की आवश्यकता है। बिना एकजुट हुए किसान लड़ नहीं सकता।

इसी दशक 1954 ईसवी में फणीश्वर नाथ रेणु का 'मैला आंचल' उपन्यास आंचलिकता की श्रेणी का प्रथम उपन्यास है। जिसमें जमींदारों का शोषण आर्थिक व पुराने नये मूल्यों की टकराहट, जमींदारी उन्मूलन और

समानता, भूमि की समस्या, राजनीति, धर्म तथा समाज के निर्माण और विधान की कथा लिए हुए हैं। मूलतः यह उपन्यास भूमि समस्या पर केंद्रित है। दो खंडों में विभाजित इस उपन्यास में आजादी के पहले व बाद के जीवन और बदलते गाँव का चित्रण हुआ है।

1954 में नागार्जुन का दूसरा उपन्यास आंचलिकता को समेटे हुए हैं। 'बाबा बटेसरनाथ' उपन्यास में अंग्रेजों की साम्राज्यवादी नीति जमींदारों का शोषण नीति, स्वतंत्रता संग्राम में गांधीजी का योगदान, वर्ग संघर्ष की राजनीति इस उपन्यास के दूसरे भाग में जमींदारी प्रथा का उन्मूलन और कांग्रेस की दोहरी नीति को भी चित्रित किया गया है।

फणीश्वर नाथ रेणु का दूसरा महत्वपूर्ण उपन्यास 'परती परिकथा' 1957 में तब प्रकाशित हुआ जब नेहरू सरकार को खाद्यान्न ने समस्या को हल करने के लिए हरित क्रांति का विकल्प खोजना पड़ा। भारत में जब पहली पंचवर्षीय योजना बनी तब कृषि को अधिक महत्व दिया गया। परती पड़ी हुई जमीन को जोड़कर फसल उगाना, रूढ़िवादी किसानों को वैज्ञानिक विधि से कृषि करने के लिए प्रेरित करना, खाद बीज यंत्रों की सुविधा प्रदान करना, नदियों पर बांध बनाना कृषि संबंधों का प्रदर्शन तथा वृतचित्र दिखाना, खेती–किसानी की कल्याणकारी योजनाओं का विस्तार से चित्रण इस उपन्यास में हुआ है। 'परती परिकथा' मूलतः जमींदारी उन्मूलन और भूमि के पुनर्विभाजन की पृष्ठभूमि में परती (परानपुर गाँव की) के पुनर्निर्माण की कथा है।

किसान जीवन को लेकर हिंदी उपन्यासों के क्रम में रामदरश मिश्र का 1961 में लिखित 'पानी के प्राचीर' है। जिसमें प्रमुख रूप से बाढ़ और ऋण की समस्या व सूखा को दिखाया गया है। किसानों की फसल बर्बाद सूखे से बचती है तो चोरों की झोली में चली जाती है। मिश्र जी ने ग्रामीण किसान जीवन के उन पक्षों को प्रकाश में रखा है जिससे किसान निर्धन होते जाते हैं कर्जदार बनते चले जाते हैं। इसी समय बाढ़ और सूखे की समस्या को डायरी शैली मैं विवेकी राय द्वारा लिखित उपन्यास 'बबूल' 1964 ईस्वी में प्रकाशित है। इस उपन्यास की कथा में बाढ़ और सूखे के कारण लोगों को मजदूरी नहीं मिलती है जिसके कारण गाँव टूट रहा है लोग शहर की तरफ भारी संख्या में पलायन कर रहे हैं।

प्रेमचंद की किसानी परंपरा का अग्रणी उपन्यास शिवप्रसाद सिंह का 'अलग–अलग बैतरणी' है जो 1967 में प्रकाशित हुआ था। उत्तर प्रदेश के ग्रामीण जीवन को उपन्यास में चित्रित किया गया है। इस उपन्यास में कई तरह के किसानों की कथा है जैसे जो अपनी खेती स्वयं जोतते हैं, बड़े जमींदार का सिरवाह जिसकी कोई जमीन नहीं हो वह जमींदारों के खेत जोतता–बोता है और अपना किसी तरह घर चलाता है। तीसरा वह किसान है। जिसकी जोत कम है लेकिन फिर भी इसी जमीन की टुकड़े से गुजर बसर होता है। इस कड़ी में रामदरश मिश्र का उपन्यास 'जल टूटता हुआ' 1963 में लिखा गया है। जो पूर्वी उत्तर प्रदेश की बाढ़ की भयावहता को रेखांकित करता है। एक अर्थ में यह 'पानी के प्राचीर' का दूसरा भाग है। इस उपन्यास का गाँव आजादी के बाद का गाँव है। जो आजादी के सपने को टूटता हुआ देखता है और मोहभंग होता है। आजादी नामक शब्द से।

जनजातियों में खेती करने की परंपरा काफी पुरानी है। जंगल में आग लगाकर उसे खेती योग्य बनाना और कुटकी (धान की जगह) की खेती करना फिर तीन साल बाद दूसरी जगह बसना यही इनका सिलसिला है। जनजातीय जीवन पर आधारित उपन्यास शानी का उपन्यास 'शाल वनों के द्वीप' पहाड़ी मडिया गोंड जाति पर आधारित है।

1972 'धरती धन न अपना' उपन्यासों में चित्रित किसानों की वही हालत है जो अन्य किसान जीवन को केंद्र में रखकर लिखे गए उपन्यासों की है। उपन्यास में कर्ज–बंधक, श्रम प्रथा का चित्रण भी मिलता है। यह उपन्यास दलित भूमिहीन मजदूर किसान की कथा को कहता है। प्रेमचंद की किसानी परंपरा से थोड़ा सा आगे और आंचलिक उपन्यासों से थोड़ा अलग है यह उपन्यास। जगदीश चंद्र की इस उपन्यास में किसान जीवन के सामाजिक संघर्ष और खेतिहर मजदूर समस्या को रेखांकित किया गया है।

'कभी न छोड़े खेत' 1976 की कथा भूमि अर्ध सामंती समाज के किसान जीवन के बिखरते ताने–बाने और नए बिगड़ते बनते हैं। संपन्न जाट किसानों के सामंती भूमि एवं संबंधों की दास्तान है। इसी वर्ष 'मुट्ठी भर का कांकर' 1976 उपन्यास आया। इसकी कथावस्तु विभाजन 1947 के बाद शरणार्थियों को बसने के लिए खेती की उपजाऊ जमीन का अधिग्रहण, से किसानों की बेदखली की समस्या को प्रस्तुत करता है। 'मुट्ठी भर काकर'

का अगला पड़ाव 1985 में प्रकाशित 'घास गोदाम' है जिसमें शहर के नजदीक के गाँव की उजड़ने की कथा है।

विवेकी राय ने 1977 में आए अपने उपन्यास 'लोक ऋण' में यह संकेत देते हैं कि जिसके पास पैसा है उसी की खेती ही अच्छी फसल दे सकती है। यह दृष्टव्य है कि आजादी की बाद कृषि क्षेत्र में आया परिवर्तन धनी किसान तक ही सीमित होकर रह गया है।

किसान जीवन पर आधारित हिंदी उपन्यास की परंपरा में भैरव प्रसाद गुप्त का उपन्यास 'गंगा मैया' (1959) और 'सती मैया का चौरा (1967) उपन्यासों में सांप्रदायिकता की चुनौती के साथ ही जमींदारों और किसानों के संघर्ष उनकी चेतना की अभिव्यक्ति हुई है।

प्रेमचंद जमींदारों और खेतिहर मजदूर को किसान नहीं मानते थे जबकि ये दोनों ही कृषि व्यवस्था के ही अंग थे। बावजूद इसके यह दोनों वर्ग किसान नहीं था। जमींदारों और मजदूरों के कारण भारत कृषि संस्कृति का निर्माण नहीं हुआ है। बल्कि केवल किसानों से हुआ है। "हिंदी में किसानों की समस्याओं पर अधिक उपन्यास लिखे ही नहीं गए जो लिखे गए हैं उनमें प्रेमचंद की सूझ–बूझ का अभाव है।"[9]

1966 में राही मासूम रजा का उपन्यास 'आधा गाँव' उत्तर प्रदेश के पूर्वाञ्चल के गाँवों में रहने वाले मुसलमान जमींदार और मध्यवर्गीय किसानों की जिंदगी के हादसों को चित्रित करने वाला उपन्यास है। जमींदारों और किसानों की बिखरते जीवन चित्रण का प्रथम उपन्यास हैं।

आजादी के बाद यूँ तो साठ के बाद ग्रामीण जीवन और उनकी समस्याओं पर लिखने वाले अधिकांशतः लेखक महानगरों में बसने लगे, शहरी जीवन जीने लगे,गाँव देहातों से कटने लगे। 1970 से 1990 के बीच जगदीशचन्द्र, विवेकी राय को छोड़कर किसी लेखक ने किसान जीवन को केंद्र में रखकर कोई उपन्यास नहीं लिखा। इन समयों के बीच एक लंबा गैप मिलता है। इसके अनेक कारण हो सकते हैं। चूंकि हरित क्रांति का पदार्पण भारत में हो चुका था, अन्न के मामले में भारत आत्मनिर्भर होने लगा था। भारत की आर्थिक– सामाजिक स्थितियों में बदलाव की संभावना प्रबल दिखाई दे रही थी। इमरजेंसी और गैर कोंग्रेसी सरकार के आने से राजनीतिक रूप से यह दशक काफी उथल–पुथल का रहा है। इसलिए अब लेखन का विषय आपातकाल और अन्य राजनीतिक–सामाजिक मुद्दे हो गए। नेहरुवियन मॉडल ध्वस्त हो रहा था। किसानों की समस्याएँ तब भी वैसी ही बनी हुई थीं। अब तो धीरे–धीरे महँगाई बढ़ती जा रही थी लेकिन किसानों की इनकम में कोई इजाफा नहीं हो रहा था। किसानों के अनाजों के मूल्य कम ही रहे कोई बढ़त नहीं हुई। सरकारें ध्यान नहीं दे रही थीं और लेखक इन समस्याओं को लिख नहीं पा रहा था। 1990 तक यह स्थिति बनी रही। 90 के बाद भारत में आर्थिक उदारीकरण आने से नए तरह का संकट पूरे भारत पर छा गया जिसके चलते इस नए बजरवाद का उदय हुआ। जिसके चलते किसानों की समस्याएँ और विकराल रूप धरण कर ली। अब सरकार के विकास की प्राथमिकता गाँव नहीं शहर थे। कृषि की जगह उद्योग को बढ़ावा दिया गया। बढ़ता औद्योगीकरण आज खेती किसानी को निगलने के लिए तैयार है। उद्योग के नाम पर किसानों की जमीनें जबरदस्ती सरकार द्वारा अधिग्रहीत कर उद्योगपतियों को कौड़ियों के दाम पर दी जा रही है। अब परम्परागत बीज उजाड़ दिये गए किसान फसलों से बीज भी नहीं तैयार कर सकते, कारण हाइब्रिड बीज बाजार में उपलब्ध है अधिक उत्पादन के लिए इन पूंजीपतियों द्वारा तैयार बीजों पर निर्भर होना है। इन बीजों की कीमत अधिक तो है ही इसके लिए अत्यधिक कीटनाशक, पानी और रासायनिक खाद की आवश्यकता होती है। किसान दूसरों की मर्जी से खेती–किसानी करने को विवश हुआ है। यह एक क्रूर समय है, जहाँ किसान लगातार हाशिये पर धकेला जा रहा है। 21वीं सदी की इन चुनौतियों ने किसानों के सामने बड़े सवाल पैदा किए हैं। सरकार के एजेंडे में खेती–किसानी व किसानों का विकास न होकर केवल उद्योग और पूंजीपतियों के विकास पर ध्यान दिया जाने लगा। विकास की इस अंधी दौड़ में भारत की खेती और किसान दोनों इतने पिछड़ गए की भारत का किसान आत्महत्या करने लगा। सन 1990–91 के बाद आर्थिक उदारीकरण के दौर में भारतीय कृषि और किसान दोनों संकटग्रस्त हैं। संकट की पुष्टि किसानों की आत्महत्याओं से होती है। खेती–बाड़ी के लिए लिया गया कर्ज किसान आत्महत्या के मूल कारण हैं। ऐसे भीषण समय में प्रेमचंद आज भी हमारे लिए प्रासंगिक और समकालीन हैं, क्योंकि किसानों की जमीन की समस्या हल नहीं हुई है, न ही भूमिहीन कृषक मजदूर को श्रम शोषण से मुक्ति मिली है। आज का होरी आत्महत्या कर रहा है। आज साहित्य की दुनिया से भी किसान धीरे–धीरे गायब होता जा रहा है। निराशा की स्थिति भी नहीं है हाँ कोई गोदान जैसा एपिक लेखन तो नहीं हुआ है। इस

तरह की कृति पर आजादी के बाद पुरस्कार भी नहीं मिला है। परंतु सजग रचनाकारों ने अपनी कलम चलाई है जिनमें कई नाम उल्लिखित हैं–यूँ तो किसान केंद्रित हिंदी उपन्यासों में 1990 के बाद बदलाव देखने को मिलता है। जिस प्रकार उदारीकरण का कृषि अर्थव्यवस्था पर प्रभाव पड़ा है उसी तरह उपन्यास में अब जमींदारी उन्मूलन, बाढ़, गरीबी, चकबंदी, आंदोलन की समस्या को लेकर किसान जीवन पर उपन्यास नहीं लिखे जा रहे हैं। अब समय बदलने के साथ समस्याएँ भी बदली हैं। भारत एक नए तरह का उपनिवेश बन गया है। अब उपन्यासों की मूल समस्या भूमि अधिग्रहण, किसानों का विस्थापन, किसानों की जमीनों को अपार्टमेंट में बदलना, खेती पर नहीं कंपनियों का विस्तार करना, सेज के नाम पर बड़े–बड़े बांध बनाने के लिए अधिग्रहीत जमीन और पुनर्वास की समस्या, आदिवासियों के जल, जंगल, जमीन इत्यादि को विषय बनाकर उपन्यास लिखे जा रहे हैं।

1991 में वीरेंद्र जैन द्वारा लिखित उपन्यास 'डूब' और इसकी अगली कड़ी 'पार' बुंदेलखंड की सीमा पर बेतवा नदी पर बांध बनाने की योजना के दुष्परिणामों की कथा कहता है। इसी समय कमलाकांत त्रिपाठी ने अपने उपन्यास 'पाहीघर' में 1857 के विद्रोह के ऐतिहासिकता को आधार बनाकर समकालीन जीवन को वाणी दी है। 1857 के विद्रोह पर आधारित यह उपन्यास किसानों की बदहाली और जमींदारी व्यवस्था को उद्घाटित करता है। 'पाहीघर' की अगली कड़ी 'बेदखल' (1997) में अवध की तत्कालीन स्थिति और बाबा रामचंद्र और अवध लगान कानून की स्थितियों को बड़ी कुशलता से ऐतिहासिक आधार बनाकर प्रस्तुत किया गया है। 'बेदखल' उपन्यास तालुकेदारों और जमींदारों के अत्याचारों और जोतदार किसानों की विवशता और दुख को प्रकट करता है। 'बेदखल' उपन्यास में छोटी जोत और पिछड़े और दलित कहे जाने वाले किसान और खेत मजदूरों ने अपने सामूहिक प्रतिवाद और नेतृत्व के बल पर अपने इतिहास को पैदा किया है। यह उपन्यास इस प्रश्न को प्रभावी ढंग से रेखांकित करता है कि किसानों का आंदोलन किसानों के दम और पैसों पर ही चलेगा।

श्याम बिहारी श्यामल का उपन्यास 'धपेल' 1993 में पलामू जिले के अकाल–सूखा प्रसंग को केंद्र में रखकर रचा गया है। अन्याय, उत्पीड़न, शोषण, बंधुआ मजदूरी, सूखा, भुखमरी, जंगलों की अवैध कटान, पशु तस्करी जैसे क्रूरतम अमानवीय कृत्यों द्वारा धन उगाहने लूटने की प्रवृत्ति का ऐसा धपेलीकरण हो रहा है कि पूरे पलामू जिले में रुकता नहीं बल्कि दिन–प्रतिदिन बढ़ता जाता है। पिछड़े आदिवासी क्षेत्रों के सीधे, भोले, ईमानदार लोग वृक्षों की दुर्लभ वन औषधियों की तरह, वन्यचरों की जातियों–प्रजातियों की तरह खत्म होते जा रहे हैं।

कुर्मेंदु शिशिर का उपन्यास 'बहुत लंबी राह' 2003 में आया जो काफी चर्चित रहा है। यह उपन्यास एक भूमिहीन खेतिहर मजदूर महतो की व्यथा–कथा कहता है। ग्रामीण समाज की विकृतियों, क्षुद्रताओं और संघर्षों का जीवंत दस्तावेज 'बहुत लंबी राह' प्रस्तुत करता है। उपन्यास का कालखंड सातवें–आठवें दशक के आस–पास का है। आजादी के बाद जमींदारी प्रथा खत्म तो हुई लेकिन व्यवहारिक स्तर पर पूरी तरह से जमींदारों का खात्मा नहीं हुआ। पुराने जमींदार और नए धनी लोग बड़े किसान के रूप में अधिक शोषण करने लगे। अतः भूमिहीनों की समस्या ज्यों की त्यों बनी रही। गाँव के परती–पठार, पोखर और गैरमजरूआ जमीन पर भी मालिकों का कब्जा बना ही रहा। बिहार में जमींदार–पुलिस गठजोड़ ने इस अन्याय को परवान चढ़ाने में महती भूमिका अदा की। उपन्यास के मूल में सामाजिक–आर्थिक विषमता है। विश्वनाथ त्रिपाठी का कहना है कि–"गोदान ग्रामीण संस्कृति के ध्वंस की कथा है तो बहुत लंबी राह ग्राम–संस्कृति के निर्माण की।"[10] लेखक कहता है कि मुक्ति की राह बहुत लंबी है उसकी प्राप्ति के लिए लड़ना होगा संघर्ष करना होगा।

सन 2006 में राजू शर्मा का चर्चित उपन्यास 'हलफनामे' मुख्यतः किसान आत्महत्या के साथ ही जलसंकट की समस्या को प्रस्तुत करता है। किसान आत्महत्या पर हिंदी में यह प्रथम उपन्यास है जो आंध्रप्रदेश के किसानी जीवन व उसकी मुख्यतः जल समस्या को दिखाता है। रिश्वत चाहे छोटी हो या बड़ी हो इसके बिना कोई भी व्यक्ति अपना काम कोर्ट–कचहरी, गाँव, कस्बे, तहसील, अदालत में नहीं करा सकता है। 'हलफनामे' उपन्यास में हलफनामों–एफिडेविट की असलियत भी खोली गयी है। मकईराम अपने पिता की आत्महत्या को लेकर 19 हलफनामे कमिश्नर को प्रशासनिक भ्रष्टाचार का राजनीतिक गठजोड़ के चलते देता है।

सूर्यदीन यादव का 2006 में प्रकाशित 'जमीन' उपन्यास में जमीन को आधार बनाकर दो विशेष अंचल की बात की गयी है। उपन्यास की शुरुआत भूमिका में सूर्यदीन यादव कहते हैं–'जमीन किसी की निजी बपौती नहीं होती वह सार्वजनिक सर्वराष्ट्रीय बल्कि विश्व की धरोहर होती है। धरती या जमीन की गोद और आकाश की

छत्रछाया के बिना हवा की कोख से असंख्य जीव सृष्टि में जन्म लेते हैं और उसे हम मान्य रखते हैं। स्वीकार करते हैं हम जिसे गैर की नाजायज चीज समझकर अस्वीकार करते हैं उस जमीन की उपज यह कृति है।'

सीमांत किसान को आर्थिक उदारीकरण की नीतियों ने जिस प्रकार से बर्बाद किया है उसका चित्रण शिवमूर्ति ने 'आखिरी छलांग' (2008) उपन्यास में किया है। किसान और कृषि समस्या और खेती की नयी और पुरानी तकनीक को अपनाने पर आधारित 'चलती चाकी' (2011) है। भूमंडलीकृत व्यवस्था में गाँव की बदलती तस्वीर, बाजारवाद की स्थितियाँ आदि प्रश्नों से यह उपन्यास टकराता है। भूमि अधिग्रहण जैसी समस्या से जूझता उपन्यास 'एक थी मैना एक था कुम्हार' (2014) उदारीकरण, भूमंडलीकरण की प्रक्रिया में छीनती जा रही किसान की जमीन को चित्रित करता है। नब्बे के बाद हर व्यक्ति को बाजार संचालित कर रहा है और व्यक्ति बाजार में खिलौने की तरह हो गया है।

विकास बनाम विनाश की कहानी कहता सुनील चतुर्वेदी का उपन्यास 'काली चाट' (2015) एक नई समस्या खेती का कंपनीकरण और नकदी फसलों के अतिरिक्त गेहूँ और धान उपजाने वाले किसानों के कर्ज लेने और आत्महत्या करने की समस्या को उठाता है। बाजार के आने से नए तरह के बिचौलिए पैदा हुए है। इन बिचौलियों की घुसपैठ सरकार के अंदर तक हो गई है।

संजीव का उपन्यास 'फाँस' विदर्भ किसान आत्महत्या को उजागर करता है। 'फाँस' की कथा वस्तु में किसानों के उत्पादन का न्यूनतम समर्थन मूल्य, वीटी कॉटन, खाद बीज कीटनाशक, पानी की कमी, महिला किसान समस्या, कीटनाशक पीकर आत्महत्या करता किसान, खेतों में पेड़ों पर फांसी लगाकर आत्महत्या करता हुआ किसान आदि अनेक समस्याएँ हैं। किसान से मजदूर बनता और अंत में आत्महत्या करता किसान इस उपन्यास के मूल में है।

पंकज सुबीर का उपन्यास 'अकाल में उत्सव' (2017) में कर्ज की समस्या को पीढ़ी दर पीढ़ी ट्रांसफर होते दिखाया गया है। सरकारी योजनाओं व भ्रष्ट शासन तंत्र का पोल खोलता यह उपन्यास किसानों की त्रासद स्थितियों का वर्णन करता है। व्यवस्थाओं का मारा किसान, नकदी फसल के अतिरिक्त गेहूँ, चावल की खेती करने वाला किसान सरकार की गलत योजनाओं व किसान नीतियों के चलते आत्महत्या कर रहा है।

देश की अर्थव्यवस्था के विकास में किसानों का अहम योगदान है। आज किसानों की उत्पादन क्षमता अत्यधिक बढ़ गयी है। लेकिन सरकार उनके फसलों को उचित समर्थन मूल्य नहीं बल्कि न्यूनतम समर्थन मूल्य दे रही है। फसल नुकसान होने पर पुख्ता सरकारी प्रावधान नहीं है। फसल बीमा का लाभ केवल कुछ बड़े किसान ही ले पा रहे हैं। लघु और सीमांत किसान के लिए सरकार की कोई योजना नहीं है। जबकि आकड़ों के अनुसार–"भारत में 60 करोड़ अनुमानित किसान हैं जिसमें से 80 प्रतिशत किसान छोटे किसान हैं, शेष 20 प्रतिशत बड़े किसान हैं।....किसान क्रेडिट कार्ड कर्ज में फसानें का एक तरीका है। किसान कर्ज में डूबना नहीं चाहता लेकिन सरकार उसे कर्ज देकर डूबा रही है। फिक्की (एफ.सी.सी.आई.) और एसोचेम ठेके पर खेती कराने में लगे हुए हैं।"[11] ठेके की खेती में जमीन को पूरी तरह बंजर कराने के बाद दूसरे खेत को ठेका पर लेकर बंजर बनाए जाने की अमेरिका की साजिश है। आने वाले समय में पूरे देश का किसान उसकी जमीन सब बंजर होने के कगार पर होंगे। सरकार भी किसानों के विपक्ष में इस तरह के गैर–जिम्मेदाराना फैसले ले रही है जिससे किसानों की समस्याएँ कम होने की बजाए दिन ब दिन बड़ी व जटिल हो रही हैं।

इसके अतिरिक्त एस आर हरनोट का उपन्यास 'हिडिंब' कई सरोकार लिए हुए है। आडंबर पूर्ण धर्मचार के विरोध में अंचल विशेष की कथा है हिडिंब। यह हिमांचल प्रदेश की कथा कहता है। कथाकार भीमसेन त्यागी के उपन्यास 'जमीन' में गाँवों के जीवन में तेजी से आये बदलाव का चित्रण है। उपन्यास स्वाधीनता के बाद नेहरू युग के विकास क्रम के स्वप्न–काल की कथा कहती है। निर्धन किसान भूमिहीन हो रहा है और भूमिहीन की यातनाएँ बढ़ रही हैं। समय के साथ गाँव का बाह्य ही नहीं, अन्तर भी बदल गया है। स्वराज्य का जो सपना दिखाया गया था, वह आज विखण्डित हो गया है। इस उपन्यास का नायक स्वयं इसका समय या फिर गाँव गणेशपुर है।

निष्कर्ष–

हिंदी उपन्यासों में अभिव्यक्त कृषकों की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्थिति तथा दयनीय और भयावह स्थिति को दिखाया जा रहा है। हाँ आज भले ही प्रेमचंद जैसा किसानों और ग्राम्य जीवन से निबद्ध उतना बड़ा लेखक भले ही हमारे बीच में नहीं है, लेकिन वर्तमान में ऐसे लेखकों की कोई कमी नहीं है जो किसान

विरोधी राजनीति को न समझता हो। आज यही लेखक साहित्यकार इस राजनीति का विरोध करते हैं और अपनी रचनाओं के माध्यम से उसका प्रतिकार भी करते हैं। आज के लेखक के सामने प्रेमचंद का समय, ग्राम और जीवन नहीं है, शायद इसलिए भी प्रेमचंद होना कठिन भी है। किन्तु संतोष और आशा भी है कि प्रगतिशील, जनवादी लेखक अपनी लेखकीय प्रतिबद्धताओं के साथ आज किसानों कि समस्याओं को लेकर लगातार अपनी लेखनी के साथ उपस्थित हैं।

संदर्भ ग्रंथ सूची–

1. पांडेय मैनेजर, संपत्ति शास्त्र (प्रस्तावना से) पृष्ठ–14 केंद्रीय हिंदी निदेशालय, दिल्ली
2. शर्मा रामविलास, महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण (भूमिका) 2008 2दक राजकमल प्रकाशन 1 बी नेताजी सुभाष मार्ग नयी दिल्ली 110002 पृष्ठ–31
3. हिंदी साहित्य : उद्‌भव और विकास–हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ–229, प्रकाशन–राजकमल प्रकाशन प्रा.लि. 1 बी., नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली–110002, संस्करण– 2003
4. शर्मा रामविलास, प्रेमचंद और उनका युग, पृष्ठ–55
5. प्रेमचंद, गोदान–पृष्ठ–309
6. प्रेमचंद, गोदान, पृष्ठ–138
7. शर्मा रामविलास, प्रेमचंद और उनका युग, पृष्ठ–171
8. नागार्जुन, बलचनमा, पृष्ठ–55
9. प्रेमचंद और उनका युग, रामविलास शर्मा, 1993 राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली पृष्ठ–44
10. रवींद्रनाथ राय, मुक्ति का विमर्श, साक्षात्कार, मई 2014 पृष्ठ–125
11. अखिल अखिलेश, मीडिया वेश्या या दलाल, हलकान किसान, प्रथम संस्करण 2009 नटराज प्रकाशन 4878/4 बी 306 जे एम डी हाउस अंसारी रोड दरियागंज नयी दिल्ली 110002 पृष्ठ–288–289